श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

UG-11.20 - चतुर्थ सोपान (अर्थ)

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च, निगमो हीश्वरस्य ते ।

अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष ,गुणं(न्) दोषं(ञ्) च कर्मणाम् ॥ 1॥

उद्धव जी ने कहा- 'कमलनयन श्रीकृष्ण! आप सर्वशक्तिमान् हैं। आपकी आज्ञा ही वेद है; उसमें जो कुछ कर्मों को करने की विधि है और कुछ के करने का निषेध है। यह विधि-निषेध कर्मों के गुण और दोष की परीक्षा करके ही तो होता है।

वर्णाश्रमविकल्पं(ञ्) च, प्रतिलोमानुलोमजम् ।

द्रव्यदेशवयः(ख्)कालान्, स्वर्गं(न्) नरकमेव च ॥ 2॥

वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोम और अनुलोमरूप वर्णसंकर, कर्मों के उपयुक्त और अनुपयुक्त द्रव्य, देश, आयु और काल तथा स्वर्ग और नरक के भेदों का बोध भी वेदों से ही होता है।

गुणदोषभिदादृष्टि- मन्तरेण वचस्तव ।

निः(श्)श्रेयसं(ङ्) कथं(न्) नृणां(न्), निषेधविधिलक्षणम् ॥ 3॥

इसमें सन्देह नहीं कि आपकी वाणी ही वेद है, परन्तु उसमें विधि-निषेध ही तो भरा पड़ा है। यदि उसमें गुण और दोष में भेद करने वाली दृष्टि न हो, तो वह प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ ही कैसे हो ?

पितृदेवमनुष्याणां(वँ), वेदश्चक्षुस्तवेश्वर ।

श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे, साध्यसाधनयोरपि ॥ 4॥

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर! आपकी वाणी वेद ही पितर, देवता और मनुष्यों के लिये श्रेष्ठ मार्ग-दर्शन का काम करता है; क्योंकि उसी के द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओं का बोध होता है और इस लोक में भी किसका कौन-सा साध्य है और क्या साधन-इसका निर्णय भी उसी से होता है।

गुणदोषभिदादृष्टिर्- निगमात्ते न हि स्वतः ।

निगमेनापवादश्च, भिदाया इति ह भ्रमः ॥ 5॥

प्रभो! इसमें सन्देह नहीं कि गुण और दोषों में भेददृष्टि आपकी वाणी वेद के अनुसार है, किसी की अपनी कल्पना नहीं; परन्तु प्रश्न तो यह है कि आपकी वाणी ही भेद का निषेध भी करती है। यह विरोध देखकर मुझे भ्रम हो रहा है। आप कृपा करके मेरा यह भ्रम मिटाइये।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता, नृणां(म्) श्रेयोविधित्सया ।

ज्ञानं(ङ्) कर्म च भक्तिश्च, नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ 6॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदों में एवं अन्यत्र भी मनुष्यों का कल्याण करने के लिये अधिकारिभेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया हैं। वे हैं- ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्य के परम कल्याण के लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है।

निर्विण्णानां(ञ्) ज्ञानयोगो, न्यासिनामिह कर्मसु ।

तेष्वनिर्विण्णचित्तानां(ङ्), कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ 7॥

उद्धव जी! जो लोग उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों और उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, उसमें दुःखबुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं।

यदृच्छया मत्कथादौ, जातश्रद्धस्तु यः(फ्) पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिसक्तो, भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ 8॥

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त हैं और न अत्यन्त आसक्त ही हैं तथा किसी पूर्वजन्म के शुभकर्म से सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा आदि में उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोग का अधिकारी है। उसे भक्तियोग के द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

तावत् कर्माणि कुर्वीत, न निर्विद्येत यावता ।

मत्कथाश्रवणादौ वा, श्रद्धा यावन्न जायते ॥ 9॥

कर्म के सम्बन्ध में जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिये, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाये अथवा जब तक मेरी लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन में श्रद्धा न हो जाये।

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञै- रनाशीः(ख्) काम उद्धव ।

न याति स्वर्गनरकौ, यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥ 10॥

उद्धव! इस प्रकार अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल धर्म में स्थित रहकर यज्ञों के द्वारा बिना किसी आशा और कामना के मेरी आराधना करता रहे और निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर केवल विहित कर्मों का ही आचरण करे तो उसे स्वर्ग या नरक में नहीं जाना पड़ता।

अस्मिँल्लोके वर्तमानः(स्), स्वधर्मस्थोऽनघः(श्) शुचिः ।

ज्ञानं(वँ) विशुद्धमाप्नोति, मद्भक्तिं(वँ) वा यदृच्छया ॥ 11॥

अपने धर्म में निष्ठा रखने वाला पुरुष इस शरीर में रहते-रहते ही निषिद्ध कर्म का परित्याग कर देता है और रागादि मलों से भी मुक्त-पवित्र हो जाता है। इसी से अनायास ही उसे आत्मसाक्षात्काररूप विशुद्ध तत्त्वज्ञान अथवा द्रुत-चित्त होने पर मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति, लोकं(न्) निरयिणस्तथा ।

साधकं(ञ्) ज्ञानभक्तिभ्या- मुभयं(न्) तदसाधकम् ॥ 12॥

यह विधि-निषेधरूप कर्म का अधिकारी मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। स्वर्ग और नरक दोनों ही लोकों में रहने वाले जीव इसकी अभिलाषा करते रहते हैं; क्योंकि इसी शरीर में अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ज्ञान अथवा भक्ति की प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग अथवा नरक का भोगप्रधान शरीर किसी भी साधन के उपयुक्त नहीं है।

न नरः(स्) स्वर्गतिं(ङ्) कां(ङ्)क्षेन्, नारकीं(वँ) वा विचक्षणः ।

नेमं(लँ) लोकं(ञ्) च कां(ङ्)क्षेत, देहावेशात् प्रमाद्यति ॥ 13॥

बुद्धिमान पुरुष को न तो स्वर्ग की अभिलाषा करनी चाहिए और न नरक की ही। और तो क्या, इस मनुष्य-शरीर में गुणबुद्धि और अभिमान हो जाने से अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति के साधन में प्रमाद होने लगता है।

एतद् विद्वान् पुरा मृत्यो- रभवाय घटेत सः ।

अप्रमत्त इदं(ञ्) ज्ञात्वा, मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ 14॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो मृत्युग्रस्त ही, परन्तु इसके द्वारा परमार्थ की-सत्य वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि यह बात जानकर मृत्यु होने के पूर्व ही सावधान होकर ऐसी साधना कर ले, जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाये-मुक्त हो जाये।

छिद्यमानं(यँ) यमैरेतैः(ख्), कृतनीडं(वँ) वनस्पतिम् ।

खगः(स्) स्वकेतमुत्सृज्य, क्षेमं(यँ) याति ह्यलम्पटः ॥ 15॥

यह शरीर एक वृक्ष है। इसमें घोंसला बनाकर जीवरूप पक्षी निवास करता है। इसे यमराज के दूत प्रतिक्षण काट रहे हैं। जैसे पक्षी कटते हुए वृक्ष को छोड़कर उड़ जाता है, वैसे ही अनासक्त जीव भी इस शरीर को छोड़कर मोक्ष का भागी बन जाता है। परन्तु आसक्त जीव दुःख ही भोगता रहता है।

अहोरात्रैश्छिद्यमानं(म्), बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः ।

मुक्तसङ्गः(फ्) परं(म्) बुद्ध्वा, निरीह उपशाम्यति ॥ 16॥

प्रिय उद्धव! ये दिन और रात क्षण-क्षण में में शरीर की आयु को क्षीण कर रहे हैं। यह जानकर जो भय से काँप उठता है, वह व्यक्ति इसमें आसक्ति छोड़कर परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और फिर इसके जीवन-मरण से निरपेक्ष होकर अपने आत्मा में ही शान्त हो जाता है।

नृदेहमाद्यं(म्) सुलभं(म्) सुदुर्लभं(म्)

प्लवं(म्) सुकल्पं(ङ्) गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं(म्)

पुमान् भवाब्धिं(न्) न तरेत् स आत्महा ॥ 17॥

यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागर से पार जाने के लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण-ग्रहण मात्र से ही गुरुदेव

इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरणमात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार-सागर से पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्मा का हनन-अधःपतन कर रहा है।

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो, विरक्तः(स्) सं(यँ)यतेन्द्रियः ।

अभ्यासेनात्मनो योगी, धारयेदचलं(म्) मनः ॥ 18॥

प्रिय उद्धव! जब पुरुष दोषदर्शन के कारण कर्मों से उद्विग्न और विरक्त हो जाये, तब जितेन्द्रिय होकर वह योग में स्थित हो जाये और अभ्यास-आत्मानुसन्धान के द्वारा अपना मन मुझ परमात्मा में निश्चल रूप से धारण करे।

धार्यमाणं(म्) मनो यर्हि, भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।

अतन्द्रितोऽनुरोधेन, मार्गेणात्मवशं(न्) नयेत् ॥ 19॥

जब स्थिर करते समय मन चंचल होकर इधर-उधर भटकने लगे, तब झटपट बड़ी सावधानी से उसे मनाकर, समझा-बुझाकर, फुसलाकर अपने वश में कर ले।

मनोगतिं(न्) न विसृजेज्- जितप्राणो जितेन्द्रियः ।

सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या, मन आत्मवशं(न्) नयेत् ॥ 20॥

इन्द्रियों और प्राणों को अपने वश में रखे और मन को एक क्षण के लिये भी स्वतन्त्र न छोड़े। उसकी एक-एक चाल, एक-एक हरकत को देखता रहे। इस प्रकार सत्त्वसम्पन्न बुद्धि के द्वारा धीरे-धीरे मन को अपने वश में कर लेना चाहिये।

एष वै परमो योगो , मनसः(स्) सं(ङ्)ग्रहः(स्) स्मृतः ।

हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्, दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ 21॥

जैसे सवार घोड़े को अपने वश में करते समय उसे अपने मनोभाव की पहचान कराना चाहता है-अपनी इच्छा के अनुसार उसे चलाना चाहता है और बार-बार फुसलाकर उसे अपने वश में कर लेता है, वैसे ही मन को फुसलाकर, उसे मीठी-मीठी बातें सुनाकर वश में कर लेना ही परम योग है।

सां(ङ्)ख्येन सर्वभावानां(म्), प्रतिलोमानुलोमतः ।

भवाप्ययावनुध्यायेन् - मनो यावत् प्रसीदति ॥ 22॥

सांख्यशास्त्र में प्रकृति से लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टि का जो क्रम बतलाया गया है, उसके अनुसार सृष्टि-चिन्तन करना चाहिये और जिस क्रम से शरीर आदि का प्रकृति में लय बताया गया है, उस प्रकार लय-चिन्तन करना चाहिये। यह क्रम तब तक जारी रखना चाहिये, जब तक मन शान्त-स्थिर न हो जाये।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य, पुरुषस्योक्तवेदिनः ।

मनस्त्यजति दौरात्म्यं(ञ्), चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥ 23॥

जो पुरुष संसार से विरक्त हो गया है और जिसे संसार के पदार्थों में दुःख-बुद्धि हो गयी है, वह अपने गुरुजनों के उपदेश को भलीभाँति समझकर बार-बार अपने स्वरूप के ही चिन्तन में संलग्न रहता है। इस अभ्यास से बहुत शीघ्र ही उसका मन अपनी वह चंचलता, जो अनात्मा शरीर आदि में आत्मबुद्धि करने से हुई है, छोड़ देता है।

यमादिभिर्योगपथै- रान्वीक्षिक्या च विद्यया ।

ममार्चोपासनाभिर्वा, नान्यैर्योग्यं(म्) स्मरेन्मनः ॥ 24॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योगमार्गों से, वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करने वाली आत्मविद्या से तथा मेरी प्रतिमा की उपासना से-अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग से मन परमात्मा का चिन्तन करने लगता है: और कोई उपाय नहीं है।

यदि कुर्यात् प्रमादेन, योगी कर्म विगर्हितम् ।

योगेनैव दहेदं(म्)हो, नान्यत्तत्र कदाचन ॥ 25॥

उद्धव जी! वैसे तो योगी कभी कोई निन्दित कर्म करता ही नहीं; परन्तु यदि कभी उससे प्रमादवश कोई अपराध बन जाये तो योग के द्वारा ही उस पाप को जला डाले, कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि दूसरे प्रायश्चित कभी न करे।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा, स गुणः(फ्) परिकीर्तितः ।

कर्मणां(ञ्) जात्यशुद्धाना- मनेन नियमः(ख्) कृतः ।

गुणदोषविधानेन, सं(ङ्)गानां(न्) त्याजनेच्छया ॥ 26॥

अपने-अपने अधिकार में जो निष्ठा है, वही गुण कहा गया है। इस गुण-दोष और विधि-निषेध के विधान से यह तात्पर्य निकलता है कि किसी प्रकार विषयासक्ति का परित्याग हो जाये; क्योंकि कर्म तो जन्म से ही अशुद्ध हैं, अनर्थ के मूल हैं। शास्त्र का तात्पर्य उनका नियन्त्रण, नियम ही है। जहाँ तक हो सके प्रवृत्ति का संकोच ही करना चाहिये।

जातश्रद्धो मत्कथासु , निर्विण्णः(स्) सर्वकर्मसु ।

वेद दुःखात्मकान् कामान् ,परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥ 27॥

ततो भजेत मां(म्) प्रीतः(श्), श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।

जुषमाणश्च तान् कामान्, दुःखोदर्कां(म्)श्च गर्हयन् ॥ 28॥

जो साधक समस्त कर्मों से विरक्त हो गया हो, उनमें दुःखबुद्धि रखता हो, मेरी लीला कथा के प्रति श्रद्धालु हो और यह भी जानता हो कि सभी भोग और भोग वासनाएँ दुःखरूप हैं, किन्तु इतना सब जानकर भी जो उनके परित्याग में समर्थ न हो, उसे चाहिये कि उन भोगों को तो भोग ले; परन्तु उन्हें सच्चे हृदय से दुःखजनक समझे और मन-ही-मन उनकी निन्दा करे तथा उसे अपना दुर्भाग्य ही समझे। साथ ही इस दुविधा की स्थिति से छुटकारा पाने के लिये श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रेम से मेरा भजन करे।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन, भजतो मासकृन्मुनेः ।

कामा हृदय्या नश्यन्ति, सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥ 29॥

इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोग के द्वारा निरन्तर मेरा भजन करने से मैं उस साधक के हृदय में आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदय की सारी वासनाएँ अपने संस्कारों के साथ नष्ट हो जाती हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्- छिद्यन्ते सर्वसं(म्)शयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥ 30॥

इस तरह जब उसे मुझ सर्वात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब तो उसके हृदय की गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मवासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य, योगिनो वै मदात्मनः ।

न ज्ञानं(न्) न च वैराग्यं(म्), प्रायः(श्) श्रेयो भवेदिह ॥ 31॥

इसी से जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और मेरे चिन्तन में मग्न रहता है, उसके लिये ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति के द्वारा ही हो जाता है।

यत् कर्मभिर्यत्तपसा, ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।

योगेन दानधर्मेण, श्रेयोभिरितरैरपि ॥ 32॥

इन सारी वस्तुओं को जो सकाम कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा जीवन को पूर्ण बनाने वाले अन्य सारे साधनों से प्राप्त की जाती हैं, मेरा भक्त मेरे प्रति भक्ति से अनायास प्राप्त कर लेता है।

सर्वं(म्) मद्भक्तियोगेन, मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।

स्वर्गापवर्गं(म्) मद्धाम, कथं(ञ्)चिद् यदि वाञ्छति ॥ 33॥

यदि मेरा भक्त किसी न किसी तरह स्वर्ग जाने, मोक्ष या मेरे धाम में निवास करने की इच्छा करता है, तो वह ऐसे वर सरलता से प्राप्त कर लेता है।

न किं(ञ्)चित् साधवो धीरा, भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं(ङ्), कैवल्यमपुनर्भवम् ॥ 34॥

मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान् साधुभक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं; यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ तो भी दूसरी वस्तुओं की तो बात ही क्या-वे कैवल्य-मोक्ष भी नहीं लेना चाहते।

नैरपेक्ष्यं(म्) परं(म्) प्राहुर्- निः(श्)श्रेयसमनल्पकम् ।

तस्मान्निराशिषो भक्तिर्- निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥ 35॥

उद्धव जी! सबसे श्रेष्ठ एवं महान् निःश्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है। इसलिए जो निष्काम और निरपेक्ष होता है, उसी को मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

न मय्येकान्तभक्तानां(ङ्), गुणदोषोद्भवा गुणाः ।

साधूनां(म्) समचित्तानां(म्), बुद्धेः(फ्) परमुपेयुषाम् ॥ 36॥

मेरे अनन्य प्रेमी भक्तों का और उन समदर्शी महात्माओं का; जो बुद्धि से अतीत परमतत्त्व को प्राप्त हो चुके हैं, इन विधि और निषेध से होने वाले पुण्य और पाप से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता।

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टा- ननुतिष्ठन्ति मे पथः ।

क्षेमं(वँ) विन्दन्ति मत्स्थानं(यँ), यद् ब्रह्म परमं(वँ) विदुः ॥ 37॥

इस प्रकार जो लोग मेरे बतालाये हुए इन ज्ञान, भक्ति और कर्मयोगों का आश्रय लेते हैं, वे मेरे परम

कल्याण-स्वरूप धाम को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्व को जान लेते हैं।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)
सं(म्)हितायां(म्) एकादशस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥

YouTube Full video link

https://youtu.be/EICVmnDxK6Q